

15. साहित्य का प्रयोजन: आत्मानुभूति

— आ. नंददुलारे वाजपेयी

साहित्य का प्रयोजन आत्मानुभूति है, यहाँ 'प्रयोजन' और 'आत्मानुभूति' शब्दों पर पहले विचार कर लेना आवश्यक है। 'प्रयोजन' शब्द कभी निमित्त के अर्थ में आता है, और कभी उद्देश्य के अर्थ में व्यहृत होता है। इससे कभी हेतु या कारण का अर्थ लिया जाता है, और कभी फल या कार्य का। विशेषकर हिन्दी में इसके प्रयोगों में बड़ी विभिन्नता है। यहाँ हम इसका प्रयोग हेतु या प्रेरक के अर्थ में ही कर रहे हैं। आत्मानुभूति साहित्य का प्रयोजन है, इसका अर्थ हम यह लेते हैं कि आत्मानुभूति की प्रेरणा से ही साहित्य की सृष्टि होती है।

'आत्मानुभूति' शब्द भी निश्चयार्थक नहीं है। इसके प्रयोग में भी बड़ा मतभेद है। यह दर्शन-शास्त्र का शब्द है, परन्तु कुछ दार्शनिक तो इस शब्द को ही स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि आत्मा के साथ अनुभूति का संबंध ही नहीं है, अतः ये दोनों शब्द एक साथ नहीं रह सकते। आत्मा निरपेक्ष तत्त्व है और अनुभूति सापेक्ष गुण है। निरपेक्ष तत्त्व का सापेक्ष वस्तु से कोई योग नहीं हो सकता। अखंड, अंज, अव्यय, नित्य, अविकारी, आत्मा से सीमित, व्यक्तिगत अथवा समूहगत अनुभूति का संबंध नहीं है। 'न जायते प्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता व न भूयः'। त्रिकाल में भी न उत्पन्न होने वाली और न मरने वाली आत्मा से देश-काल परिच्छिन्न अनुभूतियों क्या संगति?

जहाँ एक ओर यह धारणा या मत है, वहीं दूसरी ओर आत्मा और अनुभूति का परस्पर संबंध मानने वाले दार्शनिक और विचारक भी हैं। यदि पहला तत्त्वज्ञान उपनिषद् और गीता का है, तो दूसरे मत की प्रतिष्ठा भी उपनिषद् और गीता से ही की जाती है। भारतीय तत्त्व-चिंतन में पुरुष और प्रकृति के साथ-साथ आत्मा और अनुभूति का सापेक्ष संबंध फिर स्थिर करने वाले अनेक आचार्य हैं। विशेषकर द्वैतवादी दर्शनों में इन प्रकार को विचार-भूमिकाएँ मिलती हैं। शक्ति-सिद्धान्त को मानने वाले संप्रदाय जो अपनं मत-चिंतन को शक्ति-अद्वैत के नाम से घोषित करते हैं, आत्मा को शक्ति-रूप ही स्वीकार करते हैं। उनके विचार में शक्ति ही आत्मा है; अनुभूति-शक्ति है, अतः अनुभूति ही आत्मा है।

इस प्रकार आत्मा और अनुभूति के संबंध की अनेकरूपता का आभास हमें भारत की विभिन्न चिन्ता-धाराओं से प्राप्त होता है। हम यहाँ किसी एक मत को स्वीकार करने या दूसरे मत का तिरस्कार करने की दृष्टि से इस दार्शनिक चर्चा में नहीं पड़े हैं। हमारा प्रयोजन केवल आत्मानुभूति शब्द और उसके अर्थ पर दृष्टिपात करना है, और हम देखते हैं कि इस शब्द को लेकर दार्शनिकों में मतैक्य नहीं है। मतैक्य तो दूर, आत्मा और अनुभूति के पारस्परिक संबंध को लेकर सभी संभव दृष्टियों के स्थापन की चेष्टाएँ की गयी हैं, जिनमें साम्य या समन्वय ढूँढने का प्रयास हम यहाँ नहीं कर सकेंगे। एक ओर निरपेक्ष और स्वाधीन आत्म-तत्त्व के साथ त्रिकाल में भी अनुभूति का कोई संबंध न मानने वाले अद्वैत दार्शनिक हैं, दूसरी ओर अनुभूति के बिना आत्मा की सत्ता ही न स्वीकार करने वाले शक्ति-तंत्र के संस्थापक आचार्य हैं; और इन दोनों के मध्य आत्मा और अनुभूति का बहुरूपी संबंध स्थिर करने वाले सापेक्षवादी द्वैत चिन्तक हैं। हम इस अन्तहीन विचार-व्यूह में प्रवेश करने में अभिमन्यु की भाँति शक्ति हैं, अतएव हम इससे विरत रहकर ही सन्तोष करेंगे।

सच तो यह है कि हमें इस दार्शनिक ऊहापोह में जाने की आवश्यकता ही नहीं है। हमारा प्रस्तुत विषय इसकी अपेक्षा नहीं करता। आत्मानुभूति के स्थान पर हमारा काम केवल अनुभूति से चल सकता है; अतः हम आत्मानुभूति के शब्द प्रपंच में न पड़कर 'अनुभूति' से ही काम निकालेंगे।

काव्य की प्रेरणा अनुभूति से मिलती है, यह स्वतः एक अनुभूत तथ्य है। गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस का निर्माण करते समय लिखा था - 'स्वांतः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा भाषानिबन्ध मतिमंजुल मातनोति'। यहाँ 'स्वांत सुखाय' से उनका तात्पर्य आत्मानुभूति या अनुभूति से ही है। रस-सिद्धान्त का निरूपण करने वाले शास्त्रज्ञों ने काव्य का उपादान विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि को बताया है। साहित्य-मात्र के मूल में अनुभूति या भावना कार्य करती है, यह रस-सिद्धान्त की प्रक्रिया से स्पष्ट हो जाता है।

हम एक नाटक का अभिनय देखते हैं, जिसमें अनेक पात्र भिन्न-भिन्न भूमिकाओं में उपस्थित होकर परस्पर वार्तालाप करते हैं और अनेक परिस्थितियों का दिग्दर्शन कराते हुए नाटकीय व्यापार को आगे बढ़ाते हैं। इसमें हमें नाटककार की अनुभूति प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देती; परन्तु यह स्पष्ट है कि प्रत्येक पात्र की अनुभूति के रूप में रचयिता की अनुभूति काम करती रहती है। हम कोई उपन्यास पढ़ते हैं, जिसमें विविध व्यक्तियों की दैनिक घटनावली का चित्रण रहता है। पढ़ते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि हम जीवन के वास्तविक रूप को ही देख रहे हैं और उन घटनाओं का परिचय पा रहे हैं, जो वास्तव में घटित हुई हैं। हम इस ऊपरी

जीवन-व्यापार में रचयिता की सत्ता को भूल जाते हैं; पर क्या उसकी अनुभूति के बिना वह रचना किसी प्रकार संभव है? क्या स्रष्टा की अनुभूति से रहित काव्य-सृष्टि की कल्पना भी की जा सकती है?

काव्य में अनुभूति की इस व्यापकता का निर्देश करने में भारतीय साहित्य-शास्त्र का ध्वनि-सिद्धान्त अत्यन्त उपयोगी है। वह प्रमुख रूप से इसी तत्त्व पर प्रकाश डालता है कि काव्य और साहित्य की बाहरी रूपरेखा में मर्म में आत्मानुभूति या विभावन व्यापार ही काम करता है। काव्य की सम्पूर्ण विविधता के भीतर एकात्म्य स्थापित करने वाली यही शक्ति है। सम्पूर्ण काव्य किसी रस को अभिव्यक्त करता है, और वह रस किसी स्थायी भाव का आश्रित होता है और वह स्थायी भाव रचयिता की अनुभूति से उद्गम प्राप्त करता है।

यहाँ कुछ ऐसे प्रश्न उपस्थित होते हैं, जिनकी ओर हमें आवश्यक रूप से ध्यान देना पड़ता है। काव्य-साहित्य में अनुभूति की व्यापकता को स्वीकार करते हुए भी क्या हम उसे सम-रस या रस-रूप कह सकते हैं? क्या समस्त कवियों और रचनाकारों की अनुभूति एक रूप या समान होती है? यदि नहीं, तो क्या अनुभूति में स्वरूपगत भेद होते हैं? इसके साथ ही दूसरा प्रश्न यह है कि साधारण अनुभूति और काव्यानुभूति एक ही हैं या उनमें भी अन्तर है? अन्तर है, तो किस प्रकार का? साधारणतः हम देखते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति में कुछ-न-कुछ अनुभूति होती है; परन्तु प्रत्येक व्यक्ति में काव्य-शक्ति नहीं होती। उसमें अपने अनुभूतियों के प्रकाशन की क्षमता नहीं होती। तो क्या ये दोनों वस्तुएँ - अनुभूति और काव्यानुभूति - स्वरूपतः भिन्न हैं।

यहाँ सुविधा के लिए हम दूसरे प्रश्न को पहले लेंगे। यह संभव है कि प्रत्येक व्यक्ति कवि नहीं होता, उसमें अपनी अनुभूतियों के प्रकाशन की योग्यता नहीं; पर इतने से ही यह नहीं कहा जा सकता कि साधारण अनुभूति और काव्यगत अनुभूति दो भिन्न वस्तुएँ हैं। इस संबंध में वर्तमान युग के प्रसिद्ध कला-शास्त्री बेनिडोटो क्रोचे का मत ध्यान देने योग्य है। क्रोचे का कथन है कि अनुभूति वही है, जो काव्य या कलाओं के रूप में अभिव्यक्ति होती है। जिस अनुभूति में यह अभिव्यक्ति-क्षमता नहीं है, वह वास्तव में अनुभूति न होकर कोरी इन्द्रियता या मानसिक जमुहाई मात्र है। वह अनुभूति जो आत्मिक व्यापार का परिणाम है, सौन्दर्य-रूप में अभिव्यक्त हुए बिना रह ही नहीं सकती। उसे काव्य स्वरूप ग्रहण करना ही पड़ेगा। क्रोचे के मत में अनुभूति अभिव्यक्ति ही है और अभिव्यक्ति ही काव्य है। यह तीनों अन्वयर्थ या समानार्थी शब्द हैं, इनमें परस्पर पूर्ण तादात्म्य है।

यदि क्रोचे के इस निर्देश को हम स्वीकार कर लें, तो पहले प्रश्न का उत्तर भी हमें आप-ही आप मिल जाता है। वह प्रश्न अनुभूति की समरूपता या समरसता का है। क्रोचे के निरूपण के अनुसार अनुभूति का समरस या समरूप होना अनिवार्य है। एक ही अखंड अनुभूति समस्त कवियों और रचनाकारों में होती है। काव्य मात्र में उसकी अखंडता स्वयंसिद्ध है। समस्त कवि एक हैं, उनमें परस्पर भेद नहीं। अनुभूतिशील मानवता ही सर्वत्र और सब काल में एक है। काव्य और कला की अजस्र धारा देश और काल का भेद नहीं जानती। भेद वास्तविक नहीं है, उसका यथार्थ हमें समझना होगा।

काव्यगत अनुभूति के संबंध में यह क्रोचे की स्थापना है। भारतीय विचार भी इससे भिन्न नहीं है। अभी मैंने विभाव, अनुभाव आदि रस के प्रमुख उपादानों में भावना या अनुभूति की व्याप्ति का उल्लेख किया है। काव्य के आस्वाद के निमित्त 'सहृदय' की योग्यता बता कर और शब्दों पर उलझने वाले न्यायशास्त्रियों तथा वैयाकरणों को काष्ठ-कुड्य की उपमा देकर हमारे विनोदप्रिय पूर्वजों ने काव्य अनुभूति की विशेषता सिद्ध की थी। उन्होंने काव्य के विविध प्रकारों, शैलियों और पद्धतियों के बीच कोई ऐसी विभेदक रेखा नहीं खींची है; जिससे उसके सर्व सामान्य स्वरूप पर किसी प्रकार का व्याघात या विक्षेप आये। समस्त काव्य-शैलियों और काव्य-स्वरूपों में अनुभूति की अखंड एकरूपता का अनवरत प्रवाह दिखाकर भारतीयों ने काव्य की सार्वजनीनता और सार्वभौमिकता सिद्ध की थी।

आत्माभिव्यंजक रचना से कभी-कभी उन कृतियों का अर्थ लिया जाता है, जिनमें रचनाकार की व्यक्तिगत अनुभूति अधिक प्रत्यक्ष होकर आती है; परन्तु इसी कारण दूसरी रचनाओं को अनुभूति-रहित नहीं कहा जा सकता। कुछ समीक्षकों ने 'सब्जेक्टिव' (व्यक्तिगत) और 'आब्जेक्टिव' (वस्तुगत) काव्य के दो भेद कर आत्मानुभूति की प्रधानता 'सब्जेक्टिव' काव्य में मानी है, परन्तु इस भेद को हम वास्तविक नहीं कह सकते। यह तो केवल प्रकार-भेद है। 'व्यक्तिगत अनुभूति' से प्रेरित रचनाएँ कभी-कभी तो वास्तविक अनुभूति के स्तर पर पहुँचती ही नहीं, अतएव उन्हें तो काव्य की संज्ञा भी नहीं दी जा सकती। वास्तव में अनुभूति के व्यक्तिगत और वस्तुगत भेद किये ही नहीं जा सकते, उसकी तो अखंड सत्ता है। आत्मानुभूति तो काव्यमात्र की विशेषता है। किसी एक प्रकार की रचना को आत्माभिव्यंजक कह कर दूसरी, काव्य-रचनाओं को आत्माभिव्यंजना से रहित मानना कोरी भ्रान्ति है।

इसी प्रकार हम कभी रस-विशेष की रचना को दूसरे रसों की रचना से श्रेष्ठ सिद्ध करते हैं और कभी महाकाव्य, खण्ड-काव्य, प्रगीत आदि काव्य-भेदों की निरपेक्ष रूप में तुलना करने लगते हैं। उदाहरण के लिए, प्रायः शृंगार-रस को रसराज घोषित किया जाता है; परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि कोई भी शृंगारिक रचना, किसी भी अन्य रस की रचना से स्वतः श्रेष्ठ है। सभी रसों में एक ही अनुभूति-धारा प्रवाहित रहा करती है, अतएव यह भेद कृत्रिम है। महाकाव्य इसलिए महाकाव्य नहीं है कि उसमें

‘काव्य’ की सत्ता किसी लघुगीत या प्रगीत की काव्यसत्ता से प्रकृत्या भिन्न है, दोनों काव्यत्व की भूमि पर समान हैं। आकार-प्रकार और परिमाण आदि के अन्तर भले ही हों।

किसी प्रचंड बुद्धिवादी समस्या-नाटक में और किसी अतिरिक्त गीत नाटय में, सहस्रों पृष्ठों से समाहित उपन्यास में और चार या दस पंक्तियों के गद्य गीत में भी अनुभूति की समानता रहती है। इसी समता के बल पर वह समस्या-नाटक भी काव्य है, वह विशाल उपन्यास भी और वह अति-लघु गद्य-गीत भी। यदि अनुभूति की सत्ता में अन्तर होता, तो इसमें से किसी एक, दो या सब को काव्य की पदवी ही न मिलती। यदि वे सभी काव्य साहित्य के अंग हैं, तो इनमें अनुभूति की अजस्र एकरूपता है ही;

एक ओर सूर, तुलसी और मीरा आदि कवियों में और दूसरी ओर देव, बिहारी और मतिराम आदि रचनाकारों में क्या अन्तर है? क्या यह कि वे भक्त और सन्त थे और उनकी रचनाओं से भक्ति और ईश्वर प्राप्ति की शिक्षा मिली और ये संसारी और दरबारी व्यक्ति थे और इनकी कृतियों से लोक-कल्याण न हो सका? परन्तु भक्ति और ईश्वर-प्राप्ति के सदेशवाहक सभी तो कवि नहीं हुए और न सभी संसारी और दरबारी व्यक्तियों ने कलम हाथ में ली। ऐसी अवस्था में तुलना की भूमि भक्ति, ईश्वर-प्राप्ति या लोक-कल्याण नहीं हो सकती। तुलना का आधार होगा, कवित्व या काव्यत्व जिससे ऊपर गिनायी वस्तुओं को कोई संबंध नहीं और जिसका एकमात्र मानदंड है अनुभूति। सम्भव है हम यह कहें कि देव-बिहारी आदि में अनुभूति थी ही नहीं, वे, कवि ही नहीं थे। यह कहने का हमें अधिकार है; पर इस कारण हम यह कहने के अधिकारी नहीं हो जाते कि सूर और तुलसी पहुँचे हुए भक्त थे, अतएव वे श्रेष्ठ कवि भी थे। इस प्रकार का तर्क करने वाले व्यक्ति ही भक्ति को स्वतंत्र काव्य-रस सिद्ध करना चाहते हैं; पर उनकी यह उपपत्ति सच्चे काव्य-प्रेमियों को मान्य नहीं हो सकती।

अनुभूति को काव्य का प्रयोजन मानने वालों के सम्मुख यह प्रश्न भी आता है कि अनुभूति के प्रकाशन का माध्यम क्या हो। कभी कागज और कूची की सहायता से, कभी स्वर-ताल-लय के योग से, कभी पत्थर को काट-छाँट कर और कभी शब्दों की अर्थ व्यंजक शक्ति का आश्रय लेकर अनुभूति प्रकाशित होती है। इन विभिन्न माध्यमों का उपयोग भिन्न-भिन्न कलाकार अपनी रुचि और सामर्थ्य के अनुसार करते हैं। इन माध्यमों में कौन-अधिक उपयुक्त और कौन कम उपयुक्त होगा, यह तो रचयिता की योग्यता पर अवलम्बित है। इस संबंध में नियम-निर्देश करना सम्भव नहीं; परन्तु एक ही माध्यम द्वारा प्रकाशित होने वाली अनुभूति के संबंध में यह अवश्य कहा जा सकता है कि प्रत्येक अनुभूति एक ही उत्कृष्ट अभिव्यक्ति पा सकती है। हम एक शब्द के स्थान पर दूसरा शब्द अथवा एक छंद के स्थान पर दूसरा छंद रखकर ‘आदर्श’ अभिव्यक्ति नहीं कर सकते। आदर्श अभिव्यक्ति सदैव एक ही होगी।

यदि प्राचीन वन्य कलाकार के सम्मुख आज के समृद्ध साधन नहीं थे, तो इसका यह अर्थ नहीं कि उसकी अनुभूति अपनी ‘आदर्श’ अभिव्यंजना नहीं प्राप्त कर सकी। वन्य कलाकार की वही आदर्श अभिव्यंजना है, जो उसने अपने मोटे साधनों से की है। महात्मा कबीर के पास शुद्ध परिष्कृत शब्द-रोशि नहीं थी; किन्तु उन्होंने जिस किसी प्रकार से अपने भाव व्यक्त किये, वही उनका आदर्श प्रकार है। अनुभूति और अभिव्यक्त में ऊपरी सापेक्षता रहते हुए दोनों की अंतरंग अनन्यता में सन्देह नहीं किया जा सकता।

वह काव्य भी काव्य ही है, जिसमें अनुभूति और अभिव्यक्ति की पूर्ण एकरूपता न स्थापित हो पायी हो, जिसमें कवि अपनी अनुभूति के प्रकाशन का उपयुक्त और आदर्श माध्यम प्राप्त करने में असफल रहा हो। पर वह रचना काव्य नहीं है, जिसमें वास्तविक अनुभूति का ही अभाव हो। भारतीय समीक्षा के अनुसार ऐसी रचना ध्वन्यात्मक या रसात्मक काव्य के अन्तर्गत नहीं आती, उसे गुणीभूत व्यंग्य या चित्र-काव्य-मात्र कहते हैं। अनुभूति की अस्पष्टता अथवा उसका अभाव ही इन दोनों प्रकार की रचनाओं के मूल में रहा करता है।

अनुभूति का स्वरूप और समस्त काव्य-साहित्य में उसकी व्यापकता दिखाने का जो प्रयत्न ऊपर किया गया, उससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि काव्यानुभूति स्वतः एक अखंड आत्मिक व्यापार है, जिसे किसी भी दार्शनिक, राजनीतिक, सामाजिक, या साहित्यिक खंड-व्यापार या वाद से जोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं। समस्त साहित्य में इस अनुभूति या आत्मिक व्यापार का प्रसार रहता है। काव्य के अनन्त भेद हो सकते हैं, उनके निर्माण में असंख्य सामाजिक या सांस्कृतिक परिस्थितियों का योग हो सकता है; परन्तु उसका काव्यत्व तो उसकी सर्वसवेद्य अनुभूति-प्रवणता में ही रहेगा। किसी महामहिम उपदेशक की रचना भी काव्य-दृष्टि से निःसार हो सकती है और किसी क्षुद्रतम जीव की चार पंक्तियाँ भी काव्य का अनुपम शृंगार हो सकती हैं। वर्ग-संघर्ष की भावना किसी युग में काव्य-प्रेरणा का कारण हो सकती है; परन्तु वह भावना काव्यानुभूति का स्थान नहीं ले सकती, जो काव्य-साहित्य की मूल आत्मा है। काव्य का प्रयोजन मनोरंजन अथवा सामाजिक वैषम्य से दूर भागना अथवा पलायन भी नहीं हो सकता, क्योंकि वैसी अवस्था में आत्मानुभूति के प्रकाशन का पूरा अवसर रचयिता को नहीं मिल सकेगा, उसकी रचना अधूरी और अपंग रहेगी। इसी प्रकार स्थूल इन्द्रियता पर आधारित अनुभूति भी श्रेष्ठ काव्यत्व में परिणत नहीं हो सकती, क्योंकि वहाँ आत्मानुभूति के प्रकाशन में विकारी कारण मौजूद रहेंगे। कवि के पूर्ण व्यक्तित्व का उत्सर्जन करने वाली आत्म-प्रेरणा ही

काव्यानुभूति बन कर उस कल्पना-व्यापार का संचालन करती है, जिससे काव्य बनता है। काव्य और कला की मुखर वर्णमयता में, समस्त वर्णभेद, वर्गभेद तिरोहित हो जाते हैं। मानव-कल्पना का यह अनुभूतिलोक नित्य और शाश्वत है। चिरंतन विकास की सरिता इसे चिरकाल से सींचती आ रही है और चिरकाल तक सींचती जाएगी।

(आधुनिक साहित्य से)